श्री

ॐ

इशावास्य उपनिषद्‍ की प्रस्तावना

यहाँ जो अभ्यास वर्ग होंगे वे मेरे बाहर से आये हुए अभारतीय मित्रों के लिये होंगे, जिन्होंने संस्कृत भाषा का या भारतीय तत्वज्ञान का विस्तृत अभ्यास नहीं किया है। अगर किसी भी उपनिषद के अभ्यास वर्ग भारतीय मित्रों के लिये होते, तो विषय को अलग तरीके से रखा जाता। तो मेरे भारतीय मित्रों ने यह जान लेना होगा कि इन अभ्यास वर्गों का स्वरूप कुछ भिन्न होगा। उसी प्रकार ये वर्ग योग शि क्षकों के योग अभ्यास से संबंधित होंगे।

करोडों वर्षों से मानव जाति जिन प्रश्नों का सामना कर रही है जैसे: यह सृजन क्या है? यह विश्व जो हम अपने आसपास देखते हैं वह सब क्या है? सृजन का मूल तत्व इस अभिव्यक्त जगत से कैसे संबंधित है? मनुष्य, समूची मानव जाति यहाँ क्या कर रही है? सृजन का स्रोत तथा स्वयं सृजन, दोनों से संबंध रखने में मानव जाति की भूमिका क्या है? मानव जाति ने इस व्यक्त जगत से, इस विश्व से वैसे ही सृजन के अव्यक्त स्रोत से, जिसे वे भगवान या दिव्यता कहते हैं उससे, किसप्रकार से नाता रखना है? इन सभी प्रश्नों का वेद, उपनिषद्‍ और विषेशकर ईशावास्य उपनिषद्‍ ने किस प्रकार से अवलोकन किया हैं इसी बात को समझाने के लिये हम अपनी ऊर्जा केंद्रित करेंगे।

दर असल ये एक नहीं बल्कि दो प्रश्न हैं। एक तो है : सृजन का स्वरूप क्या है और सृजन का स्रोत क्या है और दूसरा है : इस व्यक्त विश्व में मानव जाति की भूमिका क्या है, क्या होनी चाहिये और उस अव्यक्त स्रोत से कोई किस तरीके से, किस हैसियत से रिश्ता बनाये?

मेरे भारतियेतर मित्रों आप एक ऐसे देश में पधारे हैं जो कि अत्यंत प्राचीन है। आप इस कमरे में एक ऐसे व्यक्ति के साथ प्रत्येक दिवस के कुछ घंटे बिताने वाले हैं, जो निश्चित ही जन्म से एक भारतीय है, संस्कार से भारतीय है किंतु उसका नागरिकत्व वैश्विक तथा चेतना ब्रह्माण्डीय है। आप जब इस कमरे में प्रवेश करते हैं तो आप मेरे साथ प्राचीन भारतवर्ष में हैं। आपको भारत की प्राचीन विरासत से, आध्यात्मिक विरासत से परिचय करवाने में, मैं बहुत खुशी महसूस करूंगी।

**वेद**

हम वेदों से आरंभ करेंगे। ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ऐसे चार वेद हैं। वेद संभवतः मानवीय साहित्य में सर्व प्रथम लिखे गये शब्द हैं। सर्वाधिक प्राचीन पुस्तकें, सर्वाधिक प्राचीन लिखित शब्द!

वेद मानवीय प्रतिभा की अतिसुंदर अभिव्यक्ति है। वे सत्य के व्यक्तिगत अनुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। सत्य का मनोदैहिक स्तर पर पाया हुआ व्यक्तिगत अनुभव है।

वेद कोई तत्वज्ञान नहीं हैं। वे कोई वैचारिक पद्धति या सिद्धांत नहीं है। शायद वे किसी युग में भिन्न भिन्न ऋषियों द्रष्टाओं तथा साधुओं द्वारा लिखे गये हैं। वे आत्मानुभूति की, स्वयं की समझ की अभिव्यक्ति हैं। स्वाभाविक ही वह अनुभूति प्रकृति से तथा प्रकृति में समायी हुई ऊर्जाओं से समन्वय का नतीजा है। यह समन्वय चेतना के भिन्न स्तरों पर घटित होता है। लेकिन वे इस अनुभूति को तत्वज्ञान के ढाँचें में अथवा विचार धारा में नहीं बाँधते हैं। यह तत्वज्ञान के षट्‍दर्शन, जैसे कि सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत में किया गया है। यह सब बाद में हुआ है।

वेदों का प्रारंभ का काल प्रतिभावान, जीवन के तथा प्रकृती के प्रेमीयों का रहा होगा। वस्तुओं तथा मन से लेकर सत्य तक, सत्य जो कि हर अणु-रेणु में स्पन्दित हो रहा है वैसे ही व्यक्त तथा अव्यक्त का संबंध समझते हुए उस संबंध की प्रक्रिया में जो घटित हुआ है उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास निरातिशय प्रेम पूर्वक करनेवाले जीवन-प्रेमियों का रहा होगा। तो वेद मेरे लिये एक अति आनंददायी तथा अत्युत्तम काव्य है।

वेदों में जिस संस्कृत भाषा का उपयोग किया गया है वह आज उपयोग में लाई जानेवाली संस्कृत भाषा से भिन्न है। वेदिक संस्कृत को “आर्ष” संस्कृत हुआ करती थी। “आर्ष” यह शब्द ‘ऋषि’ से आया है वह संस्कृत जो कि ऋषियों द्वारा उपयोग में लाई जाती थी। वर्तमान संस्कृत भाषा के व्याकरण, उसके नियम अथवा वाक्य रचना से आर्ष संस्कृत को आँका नहीं जा सकता है। आप प्राचीन संस्कृत को परख अथवा तोल नहीं सकते हैं। वह अपने आप में एक अलग भाषा है।

सभी भारतीय लोग वेदों का अभ्यास नहीं कर पाते हैं और इसकी वजह मैं आपको बतलाती हूँ। सांख्य तथा पतंजली योग सूत्र जैसे तत्वज्ञान के सिद्धांत बौद्धिक स्तर पर एकत्रित की हुई एक सुव्यवस्थित तथा तर्कशुद्ध विचारधाराएँ है जिनका अभ्यास करना आसान है। लेकिन वेदों का अभ्यास तभी संभव है जब आप में अन्वेषण की धधक हो। इस सृजन का स्वरूप क्या है? ये जो हमारे इर्द गिर्द जो हम देखते हैं, जिसे ‘जीवन’ कहते हैं उसका अर्थ क्या हैं? इस सबका स्रोत क्या है? यह सब बना कैसे? उत्पन्न कैसे हुआ? क्यों उत्पन्न हुआ? और इस सब में मैं यहाँ क्या कर रही हूँ? इस जीवन के तत्व से, मूल वस्तु से तथा साथ ही जीवन की अभिव्यक्ति से मैं कैसे रिश्तेदारी अथवा नाता रखूँ? अगर ऐसे अन्वेषण की लौ नहीं है तो वेदों का अभ्यास एक व्यर्थ प्रयास होगा। क्योंकि जब आप वेदों के एक शब्द को भी स्पर्श करते हैं तो आप उन सत्य के अति प्रामाणिक, ईमानदार मुमुक्षुओं के सत्य की अनुभूति को स्पर्श करते हैं। यह तो एक माता के मुख से अपने नन्हे के प्रति अत्यंत प्रेम से निकले हुए शब्द अथवा कोई प्रेमी ने अपने प्रेयसी के प्रति बोले हुए शब्दों की तरह हैं। प्रेम भाव से निकले हुए शब्द तर्क से अनुसीमित नहीं होते हैं। वे न तो तर्कशुद्ध होते हैं और ना ही अतर्क्य। इससे कुछ भिन्न होते हैं, इसके ऊपर के स्तर से होते हैं।

संवेदनशीलता की जिस परिसीमा तक मानव पहुँच सकता है उस ओर वेद निर्देशित करते हैं। क्या मैं वेदों को ‘मानव के अनुभूति का हिमालय’ कह सकती हूँ? आपका अनुभव या अनुभूति आपकी संवेदनशीलता पर निर्भर करती है। दूसरों के साथ वैसे ही जीवन के साथ, प्रकृती के साथ, वस्तु, प्राणि, पेड पौधे, पंछी इ. के साथ होनेवाला सुसंवाद अथवा समन्वय, संवेदनशीलता की गुणवत्ता पर ही निर्भर करता है। मैं जहाँ तक समझ पाई हूँ सच, वेद संवेदनशीलता का हिमालय ही हैं।

मोटे तौर पर देखा जाय तो वेदों के दो भाग दिखाई देते हैं। एक तो है वैयक्तिक अनुभव और दूसरा है उस अनुभव को, उस समझ को प्रतिदिन के संबंधों में कैसे जोडें, उसका समायोजन कैसे करें। वे एक को कहते हैं विधिविधान सहित अथवा कर्मकाण्ड- कर्मात्मक और दूसरे को कहते हैं - ज्ञानात्मक।

**उपनिषद्‍**

अब हम आ रहे हैं उपनिषद्‍ पर – वेदिक अभिव्यक्ति के अंतिम चरण पर। ऐतिहाअसिक दृषि से भी देखें तो यह उस काल का अंतिम काल ही है। हम इसे वैदिक अभिव्यक्ति के समापन की तरह नहीं देख रहे हैं, वेदांत से मतलब है, वेद + अंत, समापन, अंत। लेकिन हम अब वैदिक काल की अंतिम प्रावस्था, अंतिम चरण पर आये हैं जो उपनिषद्‍ का काल कहलाता है। ‘उप’ याने समीप, ‘षद्‍’ याने बैठना। शिष्य गुरु के समीप नीचे बैठता और जीते जागते शब्द ग्रहण करता है। प्राचीन भारत के लोग गुरु ने बताया हुआ, बोला हुआ कागज पर अनुलेखन कर आगे की पीढियों के हाथ में देने में विश्वास नहीं रखते थे। गुरु तथा शिष्य ने साथ साथ बैठ कर वेदों का एवम्‍ उपनिषदों का अध्ययन किया। वे जीवंत शब्द हुआ करते थे। पुस्तकों के शब्दों को वे मृत शब्द कहते थे।

जीवन के मौलिक तत्वों पर गुरु तथा शिष्य ने एकसाथ बैठ कर किया गया वार्तालाप, चर्चा, संवाद ही उपनिषद्‍ है। शिष्यों ने पुस्तकों से संदर्भ देखना, उन्हें हाथ भी लगाना अपेक्षित नहीं था। मुद्दों को लिख लेना भी अपेक्षित नहीं था क्योंकि फिर आप अपनी समझ कागज पर स्थानंतरित कर देते हैं, उसे सौंप देते हैं। वह समझ आपका अपना आशय बन कर रहती है, किंतु अगर आप उसे लिख लेते हैं तो उसे याद रखने की जिम्मेदारी आप कागज, टेप या वीडियो को सौंप देते हैं। तो समझ को अपने आप में समाए रखने की आपकी संवेदनशीलता, कम होती जाती है। विज्ञान तथा तकनीक ने दिये हुए तरीके हम इस तरह से अपना रहे हैं कि अपना संवेदनाओं का काम उन्हें सौपते जा रहे हैं और यही वजह है कि संवेदनशीलता के मामले में दिन-ब-दिन हम गरीब, क्षुद्र होते जा रहे हैं। याद करना, याद रखना, हिसाब करना इ. यह सभी यंत्रों द्वारा हो रहा है। तो हम वह संवेदनशीलता खो बैठते हैं। स्मृति की पैनी धार खो देते हैं। वैसे ही जानने की समझने की नूतनता खो देते हैं क्योंकि अब वह शब्द तो मृतवत्‍ रह गया है। संवेदनशीलता सुन्न हो जाती है।

प्राचीन काल में जीवंत शब्दों द्वारा शिक्षा घटित होती थी। शिक्षा अथवा ज्ञान संचरण के जरिये। जीवंत शब्द के साथ प्राणों का, शब्द के पीछे जो ऊर्जा है, जीवन है उसका संचरण होता है।

**बिनशर्त मुक्ति के अनुसंधान का काल**

वेदिक तथा उपनिषदिक काल, संपूर्णतया बिनशर्त मुक्ति के अनुसंधान का काल था। उस समय किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं था। कोई भी आचार संहिता, धर्म, रूढि, संप्रदाय तथा कोई भी विशेष विचार धारा नहीं थी। ये करना चाहिये, ये नहीं करना चाहिये ऐसा कुछ भी नहीं था। इनमें से कुछ भी नहीं था। अन्वेषण का कोई भी संस्थापित विधि-विधान नहीं था, सुनियोजित विचारप्रणाली तथा स्थापित निष्पन्न का अस्तित्व भी नहीं था। वेद तथा उपनिषदिक काल की यह एक विशेषता थी।

जैसे पहले बताया गया है वह जीवंत शब्दों का काल था। गुरु तथा शिष्य में सीधा संवाद। गुरु शिष्य का आपसी संबंध भी संस्थागत नहीं रहते थे। आपसी संबंध सुनियोजित अथवा विशेष प्रकार से ऐसे ही होगा, ऐसा कुछ भी नहीं था। उन दिनों गुरु में भी प्रभुत्व का, अधिकार का भाव नहीं हुआ करता था और शिष्य पर भी किसी आचार संहिता की सख्ती नहीं हुआ करती थी। भारतवर्ष में, इस भू-खण्ड में, मानव के लिये यह धर्म के पहले आने वाला युग बहुत ही रोमांचकारी था तथा इतिहास की दृष्टि से अत्यंत विशुद्ध युग था।

इस युग की सबसे आकर्षित करनेवाली बात है गुरुशिष्य के बीच संपूर्ण स्वातंत्र, वह आत्मीयता, आदर, प्रेम तथा अपनापन। शिष्य पर अपने अनुभव थौपना अथवा अपने निष्कर्षों से शिष्य को भारित करना नहीं बल्कि शिष्य को केवल अपने आप से सीखने में मदद!

किसी उपनिषद्‍ में एक कहानी आती है, एक लडका, शिष्य गुरू के पास जाता है और उन्हें पूछता है, “ गुरूजी सत्य का स्वरूप क्या है यह आप मुझे सिखाएँगे? इस जीवन का सार-तत्व क्या है, अर्थ क्या है यह बात क्या आप मुझे सिखाएँगे?” इस पर गुरू कहते हैं, “ तुम्हारी सहायता करना मुझे बहुत अच्छा लगेगा किंतु देखो, मेरे पास ये २०० गायें हैं।” वे लोग जंगल में, वनों में रहा करते थे। वेद उपनिषद्‍ कालीन सभ्यता वनों से ही संबंधित थी। वनों में, पहाडों पर, नदी किनारे या गुफाओं में रहना; बहुत अलग तरीका था रहने का, जीने का। तो गुरू कहते हैं, “ तुम ये २०० गायें लेकर अन्य कहीं, मैं जहाँ रहता हूँ वहाँ से दूर गहरे जंगल में जाओ। वहाँ कहीं अपने लिये एक सुविधाजनक जगह ढूंढो। ये गायें २०० से १००० हो जाएँ तब तक वहाँ रहो। जब ये गायें २०० से १००० हो रही होंगी तब तुम्हें तुम्हारे आसपास क्या हो रहा है, क्या घटित हो रहा है यह देखना होगा, उसका निरीक्षण करना होगा। १००० गायें साथ लेकर आना फिर तुम्हारी शिक्षा के बारे में देखेंगे।

उपनिषद्‍ में आगे चलकर बताया है कि किस प्रकार वह शिष्य गुरुवाक्य में विश्वास रख कर, २०० कमजोर गायों को लेकर दूर जंगल में कैसे जाता है, वहाँ गायों की सेवा कर, उनकी देखभाल कर इन्हें दोह कर कैसे अकेले ही रहता है। उसे प्रकृति का निरीक्षण करते हुए, देखते हुए सीखने के लिये कहा था। इसलिये वह सूरज तथा चंद्रमाँ का उदय एवम्‍ अस्त, सितारे, नदियाँ, गायों की हलचल तथा उससे अभिव्यक्त होनेवाली उनकी बुद्धिमत्ता सभी कुछ परखता है, उसका निरीक्षण करता है।

आगे उपनिषद्‍ में बताया है कि फिर जब वह शिष्य एक युवक बनकर अपने गुरू की कुटी में, १००० गायें लेकर वापस लौटता है तब उसका मुखमण्डल समझ की आभा से दीप्तिमान हुआ दिखाई देता है। वह अत्यंत आनंदित है, उसका चेहरा चमक रहा है और उसकी आँखे अंतरंगीय आनंद तथा शांति से परिपूर्ण है। ऐसे जब वह अपने गुरू के समक्ष जाकर खडा रहता है तो गुरु कहते हैं, “बधाई हो, तुमने तो अपने आपही सीख लिया।”

हम ऐसी कितनी ही कहानिया देखेंगे जिनमें गुरू अपने शिष्य को केवल एक या दो सांकेतिक बातें बता कर उसे अनुसंधान करने के लिये स्वयं के साथ अकेला ही छोड देने की धृष्टता, हिम्मत दिखाई है।

फिर वह युवक, शिष्य अपने गुरु के समीप बैठता है। गुरू थे ऋषि गौतम तथा शिष्य का नाम था भृगु। गुरू कहते हैं, “ अब मैं बतलाता हूँ कि तुमने क्या खोज निकाला।” क्या तुम्हे यह नहीं समझा कि जैसे सूरज पूर्ण प्रकाशमान है वैसे ही तुम्हारे भीतर भी प्रकाश है? तुम्हारे भीतर का वही प्रकाश तुम्हारे आँखों की रोशनी, दृष्टि बनता है? तो सूरज का प्रकाश तथा तुम्हारे भीतर का प्रकाश एक ही है? क्या तुमने यही अविष्कार नहीं किया?” इसपर वह युवक कहता है, “ हाँ।” क्या तुमने रात में चंद्रमाँ को निहार कर उसके आलोक का रस पान नहीं किया? क्या उस अमृत-पान द्वारा यह नहीं सीखा कि वही रस, वही अमृत, वही आलोक तुम्हारे भीतर भी है?” उस उपनिषद्‍ की काव्यात्मक शैली, शिष्य ने जो सीख लिया है उसकी पुष्टि कर, उसका समर्थन कर फिर गुरू कहते हैं, आजसे हम दोनों एक समान हो गये। मैं इस उपनिषद्‍ के पूर्ण विस्तार में नहीं जाऊंगी। लेकिन सिखाने का, शिक्षा प्रदान करने का यह तरीका था।

शिक्षा का एक प्रभुत्व-रहित दृष्टिकोण था, सीखने का संपूर्ण स्वातंत्र्य का दृष्टिकोण! इसमें शक नहीं कि गुरू-शिष्य के बीच प्रेम तथा आदरभाव था लेकिन साथ ही स्वयं को सीखने तथा अन्वेषण करने का संपूर्ण स्वातंत्र्य था ।

सिखाने पर नहीं किंतु ‘सीखने में सहायक होना’ इस बात पर जोर था। ऋषियों के जीवन में, संतों के जीवन में और वैसे ही शिष्यों के जीवन में भी ‘सीखना’ कभी समाप्त नहीं हुआ।

फिर गुरू शिष्य से कहते हैं कि ‘अब तुम स्वयं परिपूर्ण हो।’ वे शिष्य के आत्मसाक्षात्कार को, उसकी मुक्ती को प्रमाणित करते हैं और आशीर्वाद देते हुए बिदा करते हैं। तो शिष्य जंगल में किसी अन्य जगह जाकर निवास करता है और गुरू कहलाता है। जैसे वह अपने गुरू के पास गया था वैसे ही उसके पास शिष्य आते हैं, सीखने का तथा सीखने में सहायक होने का चक्र चालू रहता है। यह एक बहुत ही अनोखी बात है।

क्या मैं एक और दूसरी कहानी बाताऊं? ये सब उपनिषदों में आनेवाली कहानियाँ हैं। शिष्य गुरू के पास आता है और कहता है, “मैं आपके पास सीखने आया हूँ और जीवन का सार-तत्व क्या है यह जानना, समझना चाहता हूँ। “ अच्छा, ठीक है, आज से चार दिन, तुम कुछ भी अन्न, भोजन ग्रहण नहीं करोगे। चलो देखते हैं कि तुम और मैं बिना कुछ खाये रह सकते हैं क्या?” तो आगे के चार दिन गुरू शिष्य दोनों ही कुछ भी खाये बगैर रहते हैं। शिष्य अत्यंत कमजोर हो जाता है और चौथे दिन अपने गुरू से कहता है, “ गुरुदेव मैंने जान लिया कि अन्न ही ब्रह्म है। वही परम वस्तु है क्योंकि देखिये नं मैंने चार दिन कुछ नहीं खाया और अब मैं चल नहीं सकता, सो नहीं सकता, सोच भी नहीं सकता, मेरा मस्तिष्क जरा भी काम नहीं कर सकता है।ऐसा लगता है कि अन्न ही ब्रह्म है।”

गुरू कहते हैं, “ ठीक है, अब आगे के चार दिन तुम जरा भी नहीं सोचोगे। एक भी विचार नहीं।” दूसरे दिन वह शिष्य आकर कहता है, “नहीं गुरुदेव, हम विचार के बगैर नहीं रह सकते। मुझे लगता है कल मैंने गलत कहा। मन ही सार-तत्व है। क्योंकि विचार के बिना हम जी ही नहीं सकते।” “अच्छा ठीक है, क्या अब हम देखें कि बिना श्वास के हम जी सकते हैं क्या?” “ नहीं, हम बिना श्वास के जी नहीं सकते।” आप कुछ मिनिटॊं के लिये अनुभव ले सकते हैं। फिर आप कहते हैं कि जीवन ऊर्जा, प्राण ही ब्रह्मन्‍ है।

इस प्रकार गुरू शिष्य को पदक्रम अथवा श्रेणीगत अनुक्रम, जो कि सत्य के अन्वेषण की ओर ले जायेगा, उसे समझने में मदद करते हैं। गुरू शिष्य पर थौंपते नहीं हैं। “ यह ब्रह्मन्‍ है या सत्‍ चित्‍ आनंद ही ब्रह्मन्‍ है।” वे परिभाषा नहीं देते हैं।यह बहुत ही आकर्षक तथा विस्मयकारी है। प्राचीन काल के शिक्षकों ने कभी अंतिम निर्णय अथवा निष्कर्ष नहीं दिया। अगर आप कुछ उलझन अथवा समस्या लेकर उनके पास जायेंगे तो वे आपको तैय्यार हल नहीं देंगे। वे कहते हैं कि समस्या का हल देना अथवा उसका निर्धारण करना आपके अन्वेषण में रुकावट लाना हो जायेगा। आप दूसरे व्यक्ति की बुद्धिमत्ता का गला घोंट रहे हैं, दबा रहे हैं। संकेत दीजिये, सुझाव दीजिये, उसे आधार दीजिये लेकिन वह अन्वेषण, वह खोज शिष्य के लिये एक घटना बनने दीजिये। जिससे वह शिष्य की निजी खोज हो जायेगी, उसका अपना अन्वेषण हो जायेगा।

चूंकि आप योग के, जिसका सत्य तथा वास्तव के प्रति एक प्रभुत्व रहित दृष्टिकोण है, उसके विद्यार्थी हैं, मैं उपनिषद्‍ में आनेवाली योग की भूमिका पर जोर दे रही हूँ। योग ईश्वर की बात तक नहीं करता। उसमें तो योग की शिक्षा तथा शुद्धि की प्रक्रिया से शुरुआत है और साक्षात्कार अथवा उजागर होना यह संशुद्धि की, निर्मलता की अनुषंगिक उत्पत्ति है। योग का जो दृषिकोण है उसे समझना बहुत मुष्किल है जब तक आप उपनिषदों में योग की जो बुनियाद है, उसका जो मूल सिद्धांत है उसे नहीं जान लेते।

**सत्य के स्वरूप की खोज**

जीवन की एकात्मता पर जोर तथा उसकी प्रमुखता, यह उपनिषदों का दूसरा दिलचस्प पहलू है। सत्य की समग्रता, संपूर्णता, समूचापन। उपनिषद्‍ सत्य के स्वरूप की खोज हैं। उनका ताल्लुक प्रत्यक्ष ज्ञान , ग्रहणबोध अथवा अनुभूति की प्रक्रिया से है। उन्हें आपकी विचार प्रक्रिया से तथा आपके दैहिक तथा मानसिक संरचना के शोधन से, शुद्धीकरण से मतलब है। आपके निष्कर्षों से वे ज्यादा संबंध नहीं रखते हैं। आपमें, आपके जीवन में, क्या घटित होता है उससे उन्हें ताल्लुक है। क्योंकि सभी निष्कर्ष अनिश्चित अस्थायी होते हैं। जैसे जैसे मानव जाति प्रगत तथा उत्क्रांत होती जाएगी वैसे वैसे उसके निष्कर्ष बदल सकते हैं। वे भले ही भाषाओं के भिन्न आवरण में होंगे लेकिन अन्वेषण की गुणवत्ता, अन्वेषक में उस शुद्धिकरण की प्रक्रिया के दौरान क्या क्या घटित हो रहा है और सीखने की घटना, सबसे महत्वपूर्ण है।

आध्यात्मिकता आपके जीवन की गुणवत्ता है, विशिष्ट लक्षण है। जब आप निरीक्षण करते हैं, सीखते हैं तो आपके भीतर क्या होता है और आप उस सीख का क्या करते हैं। तो महत्व है, जोर है जीवन की एकात्मता पर, जीवन के परम अर्थ की खोज पर। देवी, देवता, मंदिर मसजिद, आप पूजा कैसे करते हैं, आपके रीतिरिवाज क्या हैं, मंदिर कैसे बनाते हैं, पंडित कितने उच्चशिक्षित हैं इन सब बातों से कुछ भी संबंध नहीं है।

धर्म की संस्थाएँ बाद में आई। मानवीय आचरण को धर्मसंस्थाओं के अनुसार देखना तथा उसके तहत धर्माचार्यों द्वारा शोषण फिर परिणामस्वरूप मानव को स्वयंके आंतरिक मानसिक स्वातंत्र्य से वंचित रखना - यह सब बाद में आता है।

लेकिन यह कितना अद्‍भुत है कि सीखने की प्रक्रिया में तथा अन्वेषण में, बिनशर्त स्वतंत्रता का ऐसा युग मानव को उपलब्ध हुआ था,उसमें मानव जाति जी गयी है, गुजर चुकी है। यह भारत में हुआ या नॉर्वे, अर्जिन्टिना या पोलंड में हुआ इसके कुछ मायने नहीं हैं। यह मानव जाति में घटित हुआ है इसका मतलब है कि मानव में वही बात पुनः घटित होने देने की संभावना है –खोजने का, स्वयं के लिये सत्य की खोज करने का संपूर्ण स्वातंत्र्य।

**इशावास्य उपनिषद्‍**

अब हम ईशावास्य उपनिषद्‍ की ओर आते हैं जिसका कि मैंने ‘समूचे उपनिषदों की सीख का सार-तत्व’ कह कर उल्लेख किया था। जितने भी उपलब्ध हैं वे, कुल मिलाकर १०८ उपनिषद्‍ हैं। उनमें से दस उपनिषद्‍ सबसे महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। इन दस में ईश उपनिषद्‍ सर्व प्रथम आता है। सभी उपनिषदों के नाम बता कर मैं आपकी चेतना में को उलझाना नहीं चाहती लेकिन जो दस सबसे महत्वपूर्ण उपनिषद्‍ हैं उनके नाम बताती हूँ : ईश, केन, कथा, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैतरीय, ऐतेरेय, छान्दोग्य, ब्रहदारण्यक। ये दस बहुत ही चित्ताकर्षक उपनिषद्‍ हैं और अब हम सबसे प्रथमवाले, ईशावास्य की ओर मुडते हैं।

ईश शब्द – व्याप्ति की ओर संकेत करता है।आपने ईश्वर यह शब्द सुना होगा। पतंजली योगसूत्र में भी “ ईश्वर प्रणिधान” का उल्लेख आता है। ईश्वर शब्द की उत्पत्ति भी ‘ईश’ इस मूल धातु से ही हुई है। ईश - व्याप्ति, सभीदूर व्याप्ति। व्याप्त याने बिलकुल अंतस तक जाना, आपकी उपस्थिती से भर देना, आपकी जीवंतता से लबालब भर देना। इसे व्याप्ति कहते हैं।

व्याप्ति के मायने ऊपर से ढँकना नहीं। जैसे आप एक चिठ्ठीको लिफाफे में बंद करते हैं वैसे यह विश्व दिव्यत्व से ढँका नहीं है। दिव्यत्व बिलकुल भीतर तक, ठेठ अंदर तक व्याप्त है। वह प्रत्येक अभिव्यक्ति का सत्व है। ईश से यह मतलब है। भीतर तक जाना और जिसके भीतर जाना हुआ है उसका सत्व बन जाना। समझिये जिसे आप ईश या ईश्वर कहते हैं वह एक घाँस के तिनके में भी व्याप्त है, इसका मतलब हुआ कि उस घाँस के तिनके में, जो कि काल तथा आकार से सीमित है लेकिन उसमें सभी मूलभूत तत्व व्याप्त है, दिव्यता के सभी गुणविशेष समाये हुए हैं।

तो ईशावास्य उपनिषद्‍ एक ऐसा उपनिषद्‍ है कि जो इस ब्रह्माण्ड के तत्व के बारे में, सर्वव्यापि सत्य के बारे में बात करता है। *“ईशावास्यम्‍ इदम्‍ सर्वम्‍ यत किन च जगत्याम्‍ जगत”* जगत वह है जो गति है, वेग है। इस दुनिया को जगत कहा गया है। जिसमें ऊर्जा है, गति है, जो सतत परिवर्तनशील है, उसे संस्कृत में जगत कहा गया है। “ गतिशीलम्‍ जगत” जिसमें गति है, वेग है, भिन्न प्रकार से तथा भिन्न भिन्न स्तरों पर निरंतर हलचल की ऊर्जा है। संपूर्ण विश्व की गति में समाई हुई सर्वव्याप्त दिव्यता के संदर्भ में यह उपनिषद्‍ है। यही वजह है कि इसका नाम ईशावस्य उपनिषद है। इस विश्व में जो भी आप देखते हैं उसमें व्याप्त, सर्वव्याप्त तत्व के बारे में - “ईशावास्य” इस शब्द के बारे में - बोल रही हूँ। ईशावास्य उपनिषद की ओर मुडते हैं तो किसी संस्करण के अनुसार उसमें १८ मंत्र हैं और किसी के अनुसार १६ मंत्र।

**मंत्र**

आप सभी मंत्र इस शब्द से वाकिफ हैं। यह बहुत सुंदर शब्द है। मंत्र के अर्थ पर चिंतन मनन करना मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है। मंत्र शब्द ‘मनन’ इस शब्द से बना है। मनन यानि चिंतन। यह आपकी रक्षा करता है, आपकी मदद करता है। आपको उद्धार, मोक्ष, मुक्ति की ओर बढाता है।

ईशावास्य ऊपनिषद्‍ के मंत्रों के पहले हम अब शांति पाठ को देखेंगे।

\*\*\* \*\*\* \*\*\*

**शांति पाठ**

*ॐ पूर्णम्‍ अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते।*

*पूर्णस्य पूर्णम्‍ आदाय पूर्णम्‍ एव अवशिष्यते*

*ॐ शांतिः शंतिः शांतिः*

*सृजन का स्रोत अनंत है, समग्र है। जैसे स्रोत अनंत है सृजन भी अनंत है।आप जीवन को दिव्य तथा अ-दिव्य में विभाजित नहीं कर सकते। दिव्यत्व कभी व्यय नहीं होता है, कभी भी खतम नहीं होता है। उत्पत्ति तथा संहार दो भिन्न घटनाएँ नहीं हैं। एक उत्थान है और दूसरा विलीनीकरण है, विलय है। समग्र जीवन दिव्य ही है यह बोध रहे और शंति बनी रहे।*

*\*\*\* \*\*\* \*\*\* \*\*\**

वेदों में हर बात का आरंभ ॐ से होता है। जिस आदि-नाद से यह सृजन अस्तित्व में आया है, मानवीय वाणी में उस नाद का प्रतिरूप ॐ है। मानवजाति द्वारा माना गया उस आदि नाद का प्रतिरूप ॐ है। इसी नाद से यह विश्व अविरत, सतत स्पंदित हो रहा है। सभी जगह यह व्यक्त हुआ है। यह जल में, आकाश में, अवकाश में, पेडों के जरिये, पंछियों में, प्राणियों में व्यक्त हो रहा है।

बिना आहत से उत्पन्न हुआ यह आदि-नाद है। मैं अभी बात कर रही हूँ और जो शब्दोच्चार हो रहा है वह घर्षण का परिणाम है। दात, जबान, और होंठ एकसाथ चलते हैं और वहाँ घर्षण की वजह से नाद उत्पन्न होता है। लेकिन ॐकार, सृजन का आदि-नाद कहलाता है जो किसी घर्षण से उत्पन्न नहीं हुआ है। यह स्वयं से ही उत्पन्न हुआ समग्र नाद है और मानव जाति ॐ का उच्चार कर उस आदि-नाद का अनुकरण करने का प्रयास करती है। आपको दात से स्पर्श नहीं करना पडता। अपने भीतर उसका उच्चार करने से भी आप उस नाद को सुन सकते हैं।

शांतिपाठ का आरंभ ॐ से होता है।

**पूर्णमदः**

*‘पूर्ण’* का मतलब है समग्र, समूचा। *‘मदः’* याने अनंत। यह अनंत है तथा समग्र है। अनंत तथा समग्र क्या है? स्रोत, सृजन का स्रोत, दिव्यत्व, उसे आप चाहे तो ईश्वर कह सकते हैं, गॉड कह सकते हैं। सृजन का स्रोत अनंत है, वह समग्रता है, वह समरूपता है, एकरूपता है।

**पूर्णमिदम्‍**

यह आपके आसपास, जो विश्व आप देख रहे हैं वह भी अनंत है। जैसे कि स्रोत अनंत है सृजन भी अनंत है। यह जो सृजन की अनंतता है वह उसीमे से उभरकर आई है, प्रकट हुई है।

आप व्यक्त तथा अ-व्यक्त इन शब्दों को जानते होंगे। वह जिसे देखा नहीं जा सकता, सूँघा अथवा स्पर्श नहीं किया जा सकता, जो अदृश्य है, जो इंद्रियगम्य नहीं है वह अव्यक्त कहलाता है। उसे रंग, रूप, परिमाण अथवा आकार नहीं है। जब वह रूप धारण कर लेता है तो व्यक्त कहलाता है। तो प्रथम अरूप, रूपरहित होता है। इसलिये उसे हम अव्यक्त, अदृश्य, अगोचर इ. कहते हैं। और यह विश्व तो दृश्य है, गोचर है। उसे रूप, आकार, परिमाण है। उसमें वस्तुनिष्ठता है।

शंति पाठ का प्रथम मंत्र कहता है : कृपया वस्तुओं के, प्राणियों के, चीजों के, पंछियों के इस व्यक्त जगत को सांत अथवा सीमित न समझें। यह भी अनंत है। सृजन का स्रोत भी अनंतता है, अनंत तथा समग्रता है। दोनों भिन्न नहीं हैं। एक व्यक्त है और दूसरा अव्यक्त है। एक ज्ञात है और एक अज्ञात है। लेकिन दोनों की गुणात्मकता में कुछ भी अंतर नहीं है।

गुणात्मकता की दृष्टि से दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है। मैं इस बात पर जोर दे रही हूँ क्योंकि साधरणतया लोगों को लगता है कि वेदांत के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत्‍ मित्या है। जगत को ‘माया’ याने असत्य अथवा भ्रम मानना यह भारतीय तत्वविचार की साधारण मान्यता है। मुझे ठेठ इस मुद्दे पर ही अघात करना है। उपनिषद कहता है, यह जो सृजन का स्रोत है, यह अस्तित्व का आधार है, जिसे आप दिव्यत्व कहते हैं उसे अपने इंद्रियों से देखा अथवा स्पर्श नहीं किया जा सकता वह एक अनन्तता, एक शाश्वतत्व, एक समग्रता है। यह एक अक्षयता है और इसीमें से दृश्य, गोचर अथवा जो जाना जा सकता है वह, उभरकर आया है, उत्पन्न हुआ है। यह व्यक्त भी वही अनंतता है।

**पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते**

*‘उदच्यते’*  इस शब्द को मैं ‘उभर कर आना’, ‘उत्पन्न होना’ इस अर्थ से ले रही हूँ। वैश्विक जीवन का आविर्भाव, उसका उद्भव, इस अस्तित्व के आधार में से, इस दिव्यता में से हुआ है। तो वैश्विक जीवन दिव्य ही है। विश्व वस्तु है, पदार्थ है और बाकी सब दिव्यत्व है ऐसा कह कर आप दिव्यत्व तथा विश्व को पृथक नहीं कर सकते। आप दोनों को पृथक नहीं कर सकते क्योंकि जिसे आप वैश्विक जीवन कहते हैं, जिसे आप वस्तु या पदार्थ कहते हैं वह दिव्यत्व में से ही उभरकर आया है, अभिव्यक्त हुआ है। कृपया इस ओर ध्यान दें। जीवन वस्तु से अथवा पदार्थ से नहीं उत्पन्न हुआ। उपनिषद्‍ कहता है कि जिसे आप जीवन कहते हैं वह दिव्यत्व से उभरकर आया है, दिव्यत्व से उत्पन्न हुआ, अभिव्यक्त हुआ है। जीवन दिव्यत्व है।

बाद में हम दिव्यत्व इस शब्द को अधिक विस्तार से देखेंगे। लेकिन अभी यह शांति मंत्र मानव से जो कह रहा है वह देखेंगे : जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति को दिव्य तथा पवित्र जानिये। वैश्विक जीवन से आपका रिश्ता, पवित्र, पावन तथा आदरयुक्त रिश्ता है क्योंकि वह भी उतनाही दिव्य है, वह भी दिव्यत्व ही है।

अब तक हमने क्या सीखा? यह सीखा कि जीवन को दिव्यत्व तथा अ-दिव्यत्व में बाँट नहीं सकते हैं। मन, चेतना तथा पदार्थ में जीवन को बाँट नहीं सकते, पृथक नहीं कर सकते। जीवन बाँटा नहीं जा सकता है। पदार्थ तथा चेतना में, वैश्विक जीवन तथा दिव्यत्व में, ईश्वरत्व में अलगाव नहीं है। वे पृथक नहीं हैं। वे एकदूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हैं। वे एक दूसरे में अंतर्भूत हैं, शामिल हैं। एक दूसरे में से उभरे हुए हैं। कभी तो एक अभिव्यक्त होता है और कभी वापस लय पाता है, उसीमें विलीन हो जाता है। प्रकट होना और लुप्त होना, उभरकर आना और विलीन होना यही जन्म-मृत्यु का चक्र है। मृत्यु याने दिव्यत्व में विलय तथा जन्म याने दिव्यता से अभिव्यक्त होना, उभरकर आना। तो यह जान लें कि समग्र जीवन ही दिव्यत्व है और इस बोध के साथ शांती बनी रहे।

करोडों वर्षों से यह अव्यक्त, व्यक्त होता आ रहा है। पेड जन्म लेते हैं, नदियाँ बहती हैं, समंदर हैं, ऋतुचक्र चल रहा है, अनेक राष्ट्र अस्तित्व पाते हैं, विश्व अस्तित्व पाता है, उनका विस्फोट होता है, वे नष्ट होते हैं और जीवन का यह अंतहीन/अनंत चक्र चलता ही रहता है।

उस अस्तित्व का अभिव्यक्त होना, स्वयं को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया, स्वयं को खोलना, अनावरित करना चलता ही रहता है। ऐसा मत सोचिये कि अगर यह विश्व विलीन हो गया तो दिव्यत्व को किसी चीज की जरूरत पडेगी। अपने आप ही नया विश्व उभरकर आ जाएगा, उत्पन्न हो जाएगा। उत्पत्ति तथा विलय का अभिन्नता से एकदूसरे से संबंध है। वे कोई दो भिन्न घटनाएँ नहीं हैं। विनाश, विलय यह कोई नुकसान या घाटा नहीं है। मैं, मानव द्वारा किये गये विनाश की बात नहीं कर रही हूँ। मैं बल-प्रयोग या हिंसा की बात नहीं कर रही हूँ। मैं तो सृजन के नियम की ‘जन्म-वृद्धि-विघटन-मृत्यु’ की बात कर रही हूँ। जो स्वाभाविकता से घटित होता है वह प्रकृति का नियम होता है। कितने ही सर्जन घटित हुए हैं किंतु फिरभी दिव्यत्व कभी खत्म नहीं हुआ है, निःशेष नहीं हुआ है। एक उभरकर आता है, वह वापस चला जाता है, दूसरा आता है और इस तरह से जीवन की अनंतता से विश्व विस्फोटित होते आ रहे हैं।

मोरिस निकोलास की विज्ञान पर लिखी हुई एक नवीनतम पुस्तक है, जिसमे वे लिखते हैं कि शून्यता की, अनस्तित्व की रिक्तता से अनंत ब्रह्माण्ड विस्फोटित हो रहे हैं। भौतिक शास्त्र के सबसे नवीनतम समझ है कि : सृजन का स्रोत एक रिक्तता है और रिक्तता ब्रह्माण्डों में विस्फोटित होती रहती है और यह सब अनंत काल से चलता आ रहा है।

आगे किस तरह से बढा जाय यह मैं नहीं जानती। यह केवल एक प्रस्तावना है। अगर यह बहुत ही अमूर्त-सा लग रहा है तो हम समझाने की पद्धति बदल सकते हैं। लेकिन मैं आप लोगों को -- प्राचीन भारत में, वेदों के समीप, उनकी काव्य-पूर्ण अभिव्यक्ति, गुरु-शिष्य के बीच का संवाद, वे सृजन के स्रोत के बारे में किस प्रकार बतलाते हैं, सृजन का स्वरूप, सृजन में मानव की भूमिका क्या है तथा मानव जाति का सृजन से क्या रिश्ता है - इस सब का अनुभव कराना चाहती थी। मैं भारतीयेतर लोगों से बात कर रही हूँ इसलिये हमारे प्राचीन ऋषियों की समझ का संबंध मैं आधुनिकतम भौतिक शास्त्र की खोजों से करूंगी उसीप्रकार यह भी उल्लेख करूँगी कि हजारों वर्ष पूर्व जो देखा तथा लिखा गया है उसे भौतिकशास्त्रज्ञ अब किस प्रकारसे साबित कर पुष्टि दे रहे हैं।

वेद तथा उपनिषद्‍ एक दीर्घ यात्रा के समान है, समन्वय का एक विशाल महा-काव्य। समन्वय ही जीवन का उद्देश्य है, समन्वय ही जीने की गुणवत्ता है तथा समन्वय ही संबंधों का आधार है। उनमें, समन्वय को संबंधों में कैसे लाया जाय इसका जायजा है, वे तो समन्वय का गान है।

शांति-पाठ में तो कहा गया है कि, देखिये, आप जीवन को पदार्थ तथा दिव्यता में न बाँटें। उसका विभाजन न करें। वह तो सत्य है और यह भ्रम है - ऐसा न कहें। अस्तित्व का जो आधार है वह तो जीवन के प्रत्येक अभिव्यक्ति में व्याप्त है। उस आधार की गुणवत्ता - तृण की एक पाती से लेकर हाथी या ऊंट या मानव सभी में एक जैसी है। सभी में वही दिव्यत्व समाई हुई है। पदार्थ चेतना की सीमित अभिव्यक्ति है। पदार्थ चेतना की संस्कारित अभिव्यक्ति है किंतु ( जो भी हो) वह चेतना ही है।(?) जो आपके इर्दगिर्द दिखाई देता है, जिसे आप पदार्थ कहते हैं वह कोई नगण्य अथवा जिसका ध्यान न रखा जाय ऐसा नही है। आप उसके मालिक नहीं हैं। आप सभी इस ब्रह्माण्ड में एकसाथ रहनेवाले संगी हैं, सहचर हैं। तो जो आपसी संबंध है वह समझ-बूझ का तथा समन्वय का होना चाहिये।

\*\*\*\* \*\*\*\* \*\*\*\*